मासिक

रामसंदेश



वेदोपनिषदां तत्वं सत्यं नित्यं सनातनम्।
तत्सर्वं रामसंदेशे पत्रेऽस्मिन्नवलोक्यताम्।।

नवम्बर १९८५

अनुक्रम

संस्थापक : ब्रह्मलीन स्वामी हरिओ३म् जी महाराज

संवर्धक : ब्रह्मलीन स्वामी गोविंद प्रकाश जी महाराज

व्यवस्थापक : आचार्य स्वामी अमरमुनि

ध्यान दें !

- ❀ क्या आप पत्रिका के लिए कुछ भेजना चाहते हैं ? आपका स्वागत है, पर ध्यान रखें, लिखे पृष्ठ के एक ओर और साफ अक्षरों में.
- ❀ राशि भेजते समय यह जरूर लिखें कि वह किस निमित्त है.
- ❀ यदि आपने अपनी पत्रिका का शुल्क नहीं भेजा है, तो यथाशीघ्र भेजें.
- ❀ पत्रिका से सम्बन्धित किसी भी तरह की आपकी राय का स्वागत है.

वार्षिक शुल्क

भारत में	—	१० रुपये
विदेश में	—	१५ रुपये

आजीवन सदस्यता शुल्क

भारत में	...	१०० रुपये
विदेश में	...	५०० रुपये

संपादक :
स्वामी गुरुमुखानन्द

वर्ष ३४
अंक ११

जाति प्रथा उर्फ बुद्धि का तंग सांचा

मनु के समय से पृथ्वी का रूप अनेक बार बदल चुका, नदियों ने अपने पेटे बदल दिये. जंगल काट कर जला दिये गये, बनस्पतियां और लता-गुल्म आदि और के और हो गये, क्षत्रिय और वीरों की जाति एक प्रकार से भारत से बिलकुल बह गई, देश की भाषा भी देश में विदेशी हो गई और आज कल के हिन्दू के लिए वह वैसी ही निर्जीव और विदेशी चीज है, जैसी लैटिन और ग्रीक; पर तो भी भारत के आत्मघाती आज तक जातीय रूढ़ियों (Conventionalities) के, मनु के बनाये हुए तात्कालिक नियमों और रीतियों के; अधम गुलाम बने हुए हैं. स्वाधीन विचार, स्वतन्त्र चिन्तन अधर्म वरन् महा पाप समझा जाता है. मृतक भाषा से ही जो कुछ मिले. वही पवित्र है. यदि आप की युक्ति, आप का तर्क मृत पुरुषों की कहावतों, कल्पनाओं तथा तरंगों की महिमा, अधम गुलाम की भांति, बढ़ाने में तत्पर नहीं तो तुम नरक के योग्य हो, प्रत्येक व्यक्ति तुम्हारे विरुद्ध हो जायेगा. तुम्हें नई शराब पुरानी बोतलों में रखना चाहिए. सब काम श्रेष्ठ हैं, सब श्रम पवित्र हैं, किन्तु जाति-भाव के विपर्यय से सम्मान और अपमान अब बाहरी व्यापारों में जुड़ गये हैं. जो लोग अपनी लड़कपन की आयु शिक्षा पाने में नहीं लगाते, उन्हें युवावस्था में कठिन शारीरिक श्रम करके अपने पिछले आलस्य का बदला चुकाना पड़ता है. अपनी पिछली सुस्ती की कीमत उन्हें एड़ी चोटी का पसीना बहाकर देनी पड़ती है. उनके श्रम को नीच कहने या शूद्रकर्म को तुच्छ समझने का हमें क्या अधिकार है? क्या उस श्रेणी का श्रम ठीक उतना ही आवश्यक नहीं जितना कि एक धर्मगुरु, सैनिक या वैश्य का काम? आज कल मामला यहां तक बिगड़ गया है कि नीच जाति के लोग उस सड़क पर नहीं चलने पाते जिस पर उच्च जाति के लोग, ब्राह्मण, क्षत्रिय, या वैश्य चलते हैं. जिन आदरणीय ग्रामों या नगरों में उच्च जातीय लोग बसते हैं, उनसे बाहर टूटी-फूटी झोपड़ी में शूद्रों को

रहना पड़ता है. यदि किसी उची जाति के आदमी पर किसी छोटी जाति के आदमी की छाया पड़ जाती है, तो उस उच्च जातीय व्यक्ति को अपनी निर्मलता के लिए नहाना-धोना पड़ता है. नीचजाति के आदमी द्वारा कोई चीज यदि छू ली जाती है, तो वह चीज गन्दी, छूत हो जाती है. वह चीज फिर किसी उच्च जाति के मनुष्य के काम की नहीं रह जाती. नीची जातियों के लोगों को अत्यन्त नीच और कठिन श्रम करने के इनाम में जो छिलके और टुकड़े उच्च जाति के लोगों से मिलते हैं उन्हीं पर छोटी जाति के लोगों को निर्वाह करना पड़ता है. राम को आप क्षमा करेंगे, यदि आपके सामने तथ्य रखने के लिए राम को लाचार होकर ऐसे शब्दों का सहारा लेना पड़ता है जिन्हें सुनने का आपको अभ्यास नहीं है. इन नीच जाति के आदमियों को, इन शूद्रों या पारहिओं को सड़कों पर झाड़ू देनी पड़ती है गन्दी नालियों को अपने हाथों से रगड़ना और साफ करके चमकाना पड़ता है, इतना ही नहीं, बल्कि पेशाब के हौंदों को भी उन्हें साफ करना पड़ता है, और इस श्रम के इनाम में उन्हें मिलते हैं केवल बासी टुकड़े और छिलके. वे अमीर नहीं हो सकते, वे अत्यन्त गरीब हैं. उनकी दशा का ध्यान आते ही राम के दिल में एक शूल उठता है. नीच जाति के लड़के उन पाठशालाओं में प्रवेश नहीं कर सकते जिनमें उच्च जातीय लड़के शिक्षा पाते हैं, क्योंकि उनके वहां बैठने से उच्च जातीय लड़के नापाक हो जायेंगे: ऐसी स्थिति में ये पददलित लोग कैसे कोई शिक्षा पा सकते हैं, जब कि ये किसी तरह आधे पेट खाकर जीते है, और कुत्तों की मौत मरते हैं. भारत सब प्रकार की महामारियों और रोगों का प्रिय अड्डा है. अस्वास्थ्यकर स्थानों में रहने वाले ये गरीब शूद्र सब तरह के रोगों और स्पर्शजन्य महामारियों के शिकार होते हैं, मानों वे उदारता पूर्वक-हैजा, महामारियों और दुर्भिक्षों को भर पेट अपना शरीर खिलाने के लिए निमंत्रित करते हैं. गरीब नीच रहकर भी ये सदा समाज के पैर, बुनियाद और सहारा बने हुए हैं. जो घमन्डी समाज नीची जातियों की बाढ़ को रोकता और दबाता है, जो समाज दीन-हीन

अशिक्षितों को शिक्षा नहीं देता और उनसे बुरा बरताव करता है, वह समाज अपने ही पंर काटता है वह समाज टूट-फूट कर गिर जायेगा.

ये नीच जाति के लोग अधिकांश में भारत के आदिम निवासी (aboriginal inhabitants) थे. आर्यों ने, जिन्हें आप आज हिन्दू कहते हैं, भारत के मूल निवासियों को जीता और उन्हें इस अत्यन्त नीच, अधोगति में डाल दिया. उन्होने उनकी यह दुर्दशा कर डाली. उन्होंने एक महा पाप किया, और आज जो कुछ वे काट रहे हैं. वह उन्हीं का बोया है. भारत के मूल निवासियों के प्रति व्यवहार के रूप में हिन्दुओं या आर्यों ने वही बोया था, जो आज मुसलमानों और भारत के वर्तमान शासक अंग्रेजों के हाथों वे पा रहे हैं. यही "कर्म" या "प्रतिफल" का दैवी विधान है.

राम तुझसे एक हिन्दू भारतवासी, अथवा किसी जाति या वर्ग के व्यक्ति की हैसियत से कुछ नहीं कह रहा है. राम की स्थिति सत्य पर है. राम का शरीर भारत को सर्वोच्च जाति का है, और राम संसार की अति नीच पददलित जाति की ओर से आप से विनय कर रहा है, सत्य और न्याय के नाम पर, "असली आत्मा" के नाम पर जो भारत के अन्त्यजों का भी आत्मा है, साम्प्रदायिकता और परस्पर भेदभाव के सब पर्दे और घूंघट हटा दीजिए और भारत के पीड़ित लोगों का पक्ष लीजिये.

यह जाति-भेद या श्रम-विभाजन समग्र राष्ट्र के पतन का साधन क्योंकर बन रहा है? मूल में तो श्रम का विभाजन और प्रेम की रक्षा करना इनका अभिप्राय था. किन्तु भारतीय जाति प्रथा में ये सब चीज उलट-पुलट गई हैं, गाड़ी घोड़े के आगे जोत दी गई है. इन दिनों वहां प्रेम और एकता का तो विभाग हैं, तथा प्राचीन कर्मों और भेदों का संरक्षण है. किन्तु होना चाहिए था इसके विपरीत. परिवार के एक व्यक्ति को जो कपड़े अनेक वर्षों पूर्व ठीक बैठते थे; वही उसे आज भी पहनने पड़ते हैं, जब कि उसके हाथ-पैर और हड्डियाँ पहले से बढ़ चुकी हैं. इस प्रकार, चीन देश की महिलाओं के पैरों की तरह, हिन्दुओं की बुद्धि तंग सांचों और कठोर

जूतों और सलूकों में दबाकर रक्खी जाती है. किसी हिन्दू की कट्टर शिक्षा दो दीवालों के बीच दौड़ने के समान है.

एक आदमी दो रोगों से बीमार था. उसकी आँखें आयीं थीं और पेट दुखता था. उसने वैद्य को अपनी तकलीफ सुनाई. वैद्य ने उसे दो दवाईयां दीं, एक पेट के लिए और दूसरी नेत्रों के लिये. किन्तु इस रोगी ने दोनों को मिला दिया. पेट के लिए जो औषधि थी उसमें काली मिर्चें, नमक और कुछ और ऐसी ही गर्म-गर्म चीज़ें उसके पेट को दुरुस्त करने के लिए पड़ी हुई थीं, और नेत्रों के लिए जो दवा थी उसमें सुरमा और ज़स्ता और ऐसे ही कुछ चीज़ें थीं. हम जानते है कि सुरमा खाने में जहरीला होता है. इसी प्रकार दूसरी चीज़ें, मिर्चं और नमक आदि, खाई तो जा सकती है पर आंखों में नहीं लगाई जा सकतीं. इस आदमी ने दोनों चीजें लौट-पौट दीं, जो वस्तु नयनों में लगाने को थी वह उसने खा ली, और खाने वाली औषधि आंखों में लगा ली. लो, आंखों और पेट दोनों की पीड़ा बढ़ गई. ठीक यहीं भारत में हुआ है. श्रम में विभाग होना चाहिए था, किन्तु चित्त में एकता और सामंजस्य. पर बदनसीबी और न समझी से प्रेम और चित्त में विभाग है और बाहरी कर्तव्यों को सुरक्षित रखने की चेष्टा की जाती है. □

...दुःखी व्यक्ति को चुपचाप अपना दुःख भोग लेना चाहिए. बाहर धुआं उड़ाने से लाभ? भीतर ही भीतर जब तक धुआं प्रकाश में परिणत न हो जाय, तब तक किसीसे कहना-सुनना व्यर्थ है और धुएं के बाद अग्नि अवश्य जल उठेगी—यह प्रकृति का नियम है.... □

सुख दुःख का विश्लेषण

क्या दुःख का न होना ही सुख है? इसके साथ ही यह प्रश्न उठता है कि फिर दुःख क्या है? क्या सुख का न होना ही दुःख है? न होना अर्थात् अभाव. यदि दोनों ही अभाव रूप है, तो सुख क्या है और दुःख क्या? इसकी पहचान कैसे होगी? सुख दुःख की अलग-अलग पहचान हुए बिना उनके अभाव की पहचान भी नहीं हो सकती, इसलिए सुख दुःख के पृथक-पृथक स्वरूप का विवेचन करना आवश्यक है. यदि सुख-दुःख का अभाव रूप ही हों तो 'मैं सुखी हूं, दुःखी हूं' इस अलग-अलग होने वाले सार्वजनिक अनुभव का ही तिरस्कार हो जायेगा. ऐसी अवस्था में सुख की इच्छा, राग और दुःख की निवृत्ति की इच्छा, देष की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी, इस लिए सुख-दुःख भाव रूप पदार्थ हैं और उनका विवेचन आवश्यक और उपयोगी है.

प्रत्येक मनुष्य यहां तक कि साधारण प्राणी कीट पतंगादि भी अपने मन में अलग-अलग सुख दुःख का अनुभव करते हैं. सुख दुःख अपरोक्ष हैं. 'मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं' यह अनुभव साक्षीभास्य है. इनकी सिद्धि के लिए किसी बाह्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है. सुख दुःख का घटपटादि के समान ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष नहीं होता, इसी से प्रत्यक्षमूलक अर्थात् व्याप्तिग्रहपूर्वक होने वाला अनुमान भी नहीं होता, उपमानादि प्रमाण भी सुख दुःख सम्बन्ध में अकिंचित् कर हैं, यही कारण है कि स्वसंवेद्य सुख दुःख इन प्रमाणों से बाधित भी नहीं होते और उनकी उपस्थिति संदिग्ध भी नहीं होती है. आनन्दस्वरूप आत्मा का दूसरा धर्म यह है कि हमेशा सर्वत्र और हर समय सुखी रहे और दूसरों को भी सुखी रखें जिस प्रकार हम सुखी रहना चाहते हैं उसी प्रकार सभी सुखी रहना चाहते हैं. जैसे सुख मिले वैसे सुखी हों. ज्ञान से, ध्यान से, विश्राम से और भगवान के प्रेम से, धर्म के आचरण से, नृत्य से इत्यादि. संग्रह से मनुष्य को सुख प्राप्त होना चाहिए, सुख पाना धर्म है, सुख देना भी धर्म है. वह जितना नित्य

होगा, जितना अनायास होगा, जितना ही दूसरों को दु:ख पहुंचाये बिना होगा, जितना व्यापक होगा, उतना ही अच्छा होगा. सुख में और उसके साधन में जितना जितना आत्मा का सामीप्य होता है उतना उतना स्थायित्व और सूक्ष्मता होती है. अपने-अपने सम्प्रदाय में जो लोग सुख का जो-जो आकार बना लेते हैं उन्हें उसी में सुखी होने देना चाहिए. उसमें बाधा डालने का कोई कारण नहीं है, भले ही वह कल्पना हो, भाव हो, चेष्टा हो, कर्म हो, सम्बन्ध हो या द्रव्य हो. वस्तुत: सुख अपना स्वरूप है और जिस पर हम अपने मन का हाथ लगा देते वही सुख रूप हो जाता है. यदि हमारा मन सुखी है, तो हम सुखी हैं. कोई भी बुद्धिमान प्राणी ऐसा नहीं कर सकता है कि जो मन में आये वही बोले, करे, भोगे अर्थात् संग्रह करता जाय. यदि कोई ऐसा करेगा, तो अल्प बुद्धि समझा जायेगा. मन में अगणित, अज्ञात, अनादिकालीन, वासनाएं भरी हैं, कब, कहां, कौन, किस प्रकार उदय हो जायेगी—इसका नियम नहीं है.

सुख-दु:ख धर्माधर्म के फल हैं—इसलिये सुख प्राप्यर्थ विवेकपूर्वक धर्मानुष्ठान करना चाहिए और अविवेकपूर्वक वासनावेश में होनेवाले अधर्माचरण से बचना चाहिए. यही सुख दु:ख की कुन्जी है. □

हम अपनी आत्मा को, ईश्वर को, दिव्य प्रेम को अपने भीतर काम करने का अवसर ही नहीं देते. हमें अपने शरीर और मन का कितना ध्यान रहता है (उसमें कितना ममत्व रहता है) ! यह प्रत्यक्ष है कि ऐसे दशा में हमारे भीतर से केवल साधारण स्वर ही निकल पाते हैं. अरे उस स्वामी को तो बाजा बजाने दो, जिस क्षण उस यन्त्री के हाथ तारों को छुयगे उसी क्षण ऐसा दिव्य स्वर निकलेगा जैसा कभी तुमने स्वप्न में भी न सुना होगा. आश्चर्य-जनक प्रकाश और परमानन्द बहने लगेगा. दिव्य आलाप मधुर संगीत, स्वर्गीय और स्वतन्त्र गान (सुधारस) स्वत: प्रवाहित होने लगेगा. □

अन्तर्दृष्टि

अन्तर्दृष्टि सर्वान्तरात्मा के स्वप्रकाश का नाम है. जिससे सारी इन्द्रियां प्रकाशित होकर स्व-स्व विषय को प्रकाशित करती हैं. हमारी दृष्टि बाह्यपदार्थों पर घूमती रहती है, हमारा आन्तरिक प्रकाश उसे प्रकाशता रहता है. जिस प्रकार पहाड़ी रास्ते पर चलती हुई बस की बत्तियां मार्ग को तो प्रकाशती है किन्तु अपने उस स्रोत को, जहां से कि वे प्रकाश प्राप्त करती हैं या जिसकी ताकत से प्रकाशती हैं उसे नहीं प्रकाश पाती, क्योंकि बत्तियों का मुख बाहर की ओर है इसी कारण वे सड़क पर पड़ी वस्तुओं, चलते-फिरते व्यक्तियों, तथा पशुओं आदि को तो प्रकाशती रहतीं हैं. लेकिन जिससे उन्हें प्रकाश मिलता है, जिसकी कि चैतन्यता से चेतन हैं उसे नहीं प्रकाश पातीं, क्योंकि उनके पास भीतर प्रकाश करने का साधन नहीं है. यदि वे बत्तियां जो कि बहिर्मुख हैं, उन्हें उलटाकर अन्तर्मुख कर दिया जाय, तो वे ही बत्तियां जो बाहर प्रकाशती हैं शीघ्र ही अन्दर प्रकाशना भी प्रारम्भ कर देगी.

हम दूसरों को देखने में इतने तल्लीन हैं कि एक हद तक उनके गुण दोषों को तो देखते हैं किन्तु अपने स्वभाव के प्रति हम कभी ध्यान नहीं देते. हमने अपनी ओर कभी दृष्टि तक भी नहीं डाली कि— "हम कौन हैं ? किस मामले के बने हैं और हमारे अन्दर क्या-क्या विकार छिपे हुए हैं ?"

दिन भर हम तरह-तरह के अपने ही विचारों में मग्न रहते हैं. एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा विचार आया करता है, इस प्रकार विचारों का तांता लगा ही रहता है, कभी बन्द नहीं होता. जो हम दिन में विचार करते हैं वे ही विचार प्रायः स्वप्नावस्था में भी मूर्तिमान होकर हमारे सामने आ खड़े होते हैं. दिन भर हमारा तादात्म्य विचारों के साथ होने से रात्रि के समय स्वप्न में भी वही स्थिति बनी रहती है. दिन के ही संकल्प-विकल्प अन्तर्मन में पहुंच स्वाप्निल पदार्थों का रूप धारण कर लेते हैं.

कहीं कभी पांच या दस मिनट के लिए स्वप्न रहित स्थिति भी हो जाती है, जिसमें कि कोई विचार या स्वप्न नहीं रहता तो हमें उस बेहोशी में अपने निजानन्द में स्थिर होने का अवसर मिल जाता है. इसी अल्पकालीन विश्रान्ति के मिलने के कारण हमारी ऊर्जा शक्ति फिर प्राणवन्त हो जाग उठती है. इसी के कारण हम प्रातःकाल तरोताजा होकर उठते हुए कहते हैं कि— "ऐसे सुख से सोये कि हमें कुछ भी पता नहीं चला." यहां विचार करके देखा जाय तो वहां अपना पता न रखनेवाला भी कोई विराजमान अवश्य था जो कि इस अभाव को भी भावरूप-सा होकर प्रत्यक्ष कर रहा था.

किन्तु सुषुप्ति में अज्ञान भरा है, इस कारण उसे उस समय देखनेवाले का पता नहीं हो पाता. वह उस समय नहीं जान पाता कि अभाव का साक्षी कौन था. लेकिन जब भी जागते ही अज्ञान की निवृत्ति हो आती है, तो देखनेवाला और दिखाने-वाला दोनों एक हो जाते हैं: इस अवस्था में दिखाई देनेवाला भी देखने वाला बन जाता है. शीघ्रकारी मन भी एक समय में एक ही कार्य कर सकता है यही उसका धर्म है. अगर मन बाहर के विषयों, व्यक्तियों तथा बाह्य पदार्थों में रमण कर रहा हो, तो उसकी अन्तर्दृष्टि कदापि नहीं होगी, किन्तु जब हम बाहर से दृष्टि हटाकर अन्तर्दृष्टि कर लेते हैं, तो बाह्य पदार्थ दिखाई नहीं पड़ते. उस समय जाग्रत, निर्विचार मन आत्मिक शान्ति और आनन्द का अनुभव करता है.

जब तक जीव सृष्टि संकल्प, विकल्पों के रूप में चलती रहती है, अन्तर्दृष्टि नहीं हो पाती. जब तक हमारे अन्दर संकल्पों का तांता बना रहता है, एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, इस प्रकार संकल्पों का आवागमन हो रहा है, जब तक अन्तर्मुखी या भीतरी दृष्टि नहीं हो सकती. ये सब संकल्प विकल्प भी हमारी एक प्रकार की अचेत-अवस्था में ही उठते हैं. ये भी एक प्रकार के दिवा स्वप्न ही हैं. लेकिन जब हम सचेत हो जाते हैं, तो संकल्प-विकल्प भी विलीन हो जाते हैं. फिर संकल्पों के अन्दर बल नहीं रहता जो हमें अपनी कार्यरूपता में लगा सकें. वे हमारा ही बल लेकर उठते हैं. किन्तु जब हम अपनी सत्ता को तटस्थता के रूप में उनसे पृथक कर लेते हैं, तो सभी संकल्प विकल्प स्वयं निर्मूल हो

जाते हैं. जिस प्रकार "कार" का क्लच दबा देने से उसका इंजिन से कनेक्शन अलग नहीं हो जाता है. फिर भले ही एक्सिलेटर कितना ही क्यों न दबाओ, गाड़ी नहीं चलती.

जब तक एक्सिलेटर का सम्बन्ध क्लच के साथ था, तो गाडी खूब भागती थी, पर ज्यों ही उसका विच्छेद हुआ गाडी का भागना बन्द हो गया जब तक हम पखें के स्विच को बन्द नहीं कर देते हैं पंखा चलता रहता है, किन्तु स्विच के आफ करते ही पंखा बन्द हो जाता है. यदि हम उसे हाथ से पकड़कर रोकने की चेष्ठा करेंगे, तो हमारे हाथ लहू-लोहान हो जायेंगे. किन्तु जब हम स्विच को आफ कर देगें, तो फिर हमें पखें के ब्लेडों को पकड़कर रोकने की आवश्यकता नहीं होगी. वे स्वयमेव रुक जायेंगे. पखे में शक्ति बिजली की थी, जिसके कारण पंखा चल रहा था. स्विच आफ करने से शक्ति का सम्बन्ध न रहा इस कारण पंखा स्वतः बन्द हो गया.ठीक इसी प्रकार हमारे अन्दर से उठते हुए संकल्प-विकल्पों को भी शक्ति हमारे तादात्म्य से प्राप्त होती है. अगर हम अपना तादात्म्य अलग कर लेते हैं तोसं कल्प-विकल्प शक्ति हीन हो, अपने आप विलीन होना शुरू हो जाते हैं. अग्नि के होने पर अगर धुआं उठता है, तो पानी होने के कारण ही उठता है. धुआं उठने का मूल कारण तो अग्नि है, जिससे आर्द्र ईंधन का संयोग होने से धुआँ उठता है. इसी प्रकार हमारे विचारों का मूल आधार हमारा वासना भरा तादात्म्य है, जिसके कारण विचार उठते हैं, किन्तु ज्यों ही हम तटस्थ होकर विचारों को निज प्रकार में ला निखारना प्रारम्भ कर देते हैं, तो विचार धुएं की तरह उड़ना शुरू हो जाते हैं. निज प्रकाश विचारों का धुआँ उड़ा देता है. यहीं से आध्यात्मिक भूमिकाएँ शुरू हो जाती हैं.

सिनेमा के स्क्रीन के ऊपर दृश्य तब तक दीखते हैं, जब तक उसमें अन्धेरा हो. किन्तु ज्यों ही अन्दर प्रकाश हो जाता है सारे दृश्य एकदम फीके पड़ जाते है, वृक्ष की शाखाओं, पत्तियों आदि के काटने पर तो वे फिर उग आती हैं. इनके कटने पर भी वृक्ष नहीं

मिटता. वृक्ष को निर्मूल करना हो तो उसकी वे जड़ें जो कि अन्ध-कार में फैली हुई हैं, प्रकाश में ला दी जायें. उनकी मिट्टी हटाई जाये, तो वृक्ष का न केवल बढ़ना ही बन्द हो जाता है, किन्तु वह सूख भी जाता है.

अन्तर्दृष्टि में इतना बल है कि उससे आन्तरिक विषय-विकार सब विलीन होना शुरू हो जाते है. मनुष्य की दृष्टि बाहर केन्द्रित न होकर अन्तर्मुखी हो जाती है. इसी में वह अपने व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त कर लेती है. उसे अपनी कमजोरी का पता चल जाता है, तो फिर वह कमजोरी रह नहीं पाती, धीरे-धीरे स्वयं निकल जाती है.

अगर किसी गृहिणी को यह पता चल जाये कि कमरे के किसी कोने में कूड़ा-क़चरा पड़ा है, तो वह कूड़ा-कचरा वहां फिर बाकी नहीं रहता. गृहिणी की दृष्टि पड़ते ही कूड़ा वहां से तत्काल उठ जाता है. हमें अपने दोषों के प्रति जब तक होश नहीं रहता, तब तक दोष पनपते रहते हैं. पर ज्यों ही हम होश में आते हैं दोष विलीन होते चले जाते हैं. मन निर्मल होता चला जाता है. विचार निर्बल पड़ते चले जाते हैं. मनुष्य को एक विशेष शक्ति की अनुभूति होने लगती हैं जो बाहर से अन्दर की ओर ले जाती है. जितनी-जितनी शांति मिलती जाती है, उतनी ही उतनी उसे बार बार अन्तर्दृष्टि करने की रसानुभूति होती जाती है, यही प्रेरणा बार-बार होती है, बाहर के विकारों, व्यक्तियों, विषयों पदार्थों में इतना बल नहीं रह जाता कि अन्तर्दृष्टि को बाहर खींच सकें. इस कारण मनुष्य धीरे-धीरे अपने आप निजी स्वरूप में स्थिर होता चला जाता है □

जैसे को तैसा आकर मिलता है, आप यहीं, इसी क्षण, ईश्वर के आनंद को अपने भीतर अनुभव करो, सफलता का आनन्द अपने आप आपकी ओर खिचता हुआ चला आयेगा □ स्वामी राम

एक बार यदि उसका, सत्य का स्पर्श हो जाय, तो हम सोचने लगें कि सारी अनेकता के भीतर से कोई एकता प्रवाहित हो रही है या नहीं ? इन इन्द्रियों को विषय के संसर्ग से जो सुख मिलता है, उसका जन्म कहां है ? विषय है. या इन्द्रिय में है ? इन इन्द्रियों का संचालन करने वाली ताकत कौन सी है, जिसके सहारे यह श्वास लिया जाता है, वह श्वासोच्छ्वास की क्रिया करने वाली शक्ति कौनसी है. वह ऊर्जा कौनसी है, जो अणु रेणु में प्रकाशित है ?—जिसकी हम सर्वत्र झलक देखते हैं . ओत-प्रोत हैं, संसार जिसके तेज से, वह उर्जा कौन सी है ? वह शक्ति कौनसी है ?

एक बार यदि ये प्रश्न उठें, तो इन प्रश्नों का उठना ही आपके जीवन का जो 'स्टेट्स को' होगा उसको उलट-पलटकर फेंक देगा . यह हो नहीं सकता कि सत्य की जिज्ञासा हृदय में जागृत हो और जैसा जीवन जिज्ञासा के जन्म से पहले चल रहा था, वैसा ही चले, असम्भव है . ···हम जीवन की गहराईयों में उतरते हैं, अपनी असली तसवीर पर नजर डालते हैं. तब हमें पता चलता है कि हम कहां है? हमारी असली तसवीर कितनी भद्दी है, कितनी घिनौनी हैं, ऊपर से हम सेंट और फुलेल लगाकर शरीर को स्फटिक शिला की भांति स्वच्छ और बढिया कपडें पहनाकर आकर्षक और दर्शनीय भले ही बना लें पर भीतर ही भीतर हम महसूस करेंगें ही और जब यह हाल हैं तो कौन न महसूस करेगा कि जरूरत है इस जीवन को बदलने की ?···हम जब अपने ऐबों पर नज़र करते हैं, अपनी कमियों और कोताहियों पर दृष्टि डालते हैं, तब हम समझ पाते हैं कि हमारा जीवन कितनें गलत रास्ते पर जा रहा हैं . इस आवश्यकता को महसूस करना कि हमारा जीवन कितने गलत रास्ते पर है, उसे हमें बदलना हैं और जरूर बदलना हे . सत्य शोधन की जिज्ञासा हमारे मन में एक बार जागृत भर हो जाय, फिर तो बेड़ा पार है .

···व्यक्तिगत जीवन द्वारा कौटुम्बिक जीवन में शान्ति तथा स्नेह का संचार करना तभी सम्भव होगा, जब परस्पर अपनी-अपनी भूल स्वीकार करने में कुटुम्ब के किसी सदस्य को संकोच न हो और भूल स्वीकार कर लेने पर उसे क्षमा कर दिया जाये अर्थात निर्दोष मान लिया जाये .

सच का खोजी ?

□ स्वामी राम

यह एक हिन्दू सन्त की कहानी है, जो 'मधूकरी' की टोह में किसी नगर को सड़कों से गुजर रहा था. वह एक दरवाजे पर रूका और एक युवती ने उसे रोटियों का टुकड़ा थमा दिया जिसे लेकर वह फिर जंगल वापस चला गया और अपनी क्षुधाम शांत करने के बाद ध्यानावस्थित हो गया. पुनः भूख मिटाने के लिए एक दिन जब वह नगर को सड़कों से गुजर रहा था, उसी तरुणी ने उसे फिर भोजन दिया जो पहले को सूखो रोटियों से क़हीं उत्तम था.

इस तरह सन्त अपनी क्षुधा शांत करने के लिए नगर जाया करता था. तीसरी बार जब वह उसी तरूणी के दरवाजे पर पहुंचा, तरुणी ने उसे स्वादिष्ट पकवान भेंट करते हुए कहा कि "मैं हर रोज आपकी प्रतीक्षा किया करती हूं, आपकी इन्तजार में मेरी आंखें हर घड़ी इसी पथ पर लगी रहती है. आपकी आँखों ने मुझ पर जादू कर दिया है." सन्त पकवान लेकर चला गया और उसे ज़ंगल में जाकर नदी में डाल दिया.

दूसरे दिन सन्त ने अपनी आंखों में गर्म लोहे की शलाखें भोंक दी और आंखें निकालकर छड़ी के सहारे उसी रास्ते की ओर चल पड़ा, जहां युवती का मकान पड़ता था. युवती उसका इन्तजार कर रही थी. सन्त सिर झुकाये बढ़ा जा रहा था. युवती उसे देखते ही पकवान लाने दौड़ गई. जब वह लौटी, सन्त ने अपनी आंखें भेंट करते हुए कहा "मां, इन आंखों ने तुम पर जादू कर दिया था, इन्होंने तुमको तकलीफ दी है, इसलिए इन्हें तुम्हें अपने पास रखने का पूरा अधिकार है."

सन्त करुण स्वर में एक साँस में कहता ही गया, "मां, तुम्हें इन आंखों ने आकर्षित किया, इन्हें अपने ही पास रखो, इन्हें प्यार

जब किसी पूर्वपुण्य से या सत्तसंग से मनुष्य में विवेक जाग्रत होता है, तब वह विशुद्ध और कल्याणस्वरूप अचल आत्मा का अनुसंधान करता है. अर्थात् मैं शरीर नहीं, पर शरीर का नियन्ता, शिवस्वरूप और सुखस्वरूप आत्मा हूं, ऐसा सोचता है, तब वह दु:ख मात्र से छूट जाता है.…

अहार निद्रा भय मैथुन च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्,
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीना पशुभि: समाना:.

अर्थात् भूख लगने पर चाहे जैसे या जहां से भोजन प्राप्त करना, थकने पर आराम करना, भय का कारण दीख पड़े, तो उससे अपनी रक्षा करना, और काम की तृप्ति के लिए स्त्रीसंग करना—ये चार बातें मनुष्यों या पशुओं में समान हैं. परन्तु मनुष्य को ईश्वर ने विवेक-बुद्धि दी है और उसके द्वारा वह सार-असार का, धर्माधर्म का विवेक करके सद्व्यवहार कर सकता है. परन्तु उसी बुद्धि का विपरीत उपयोग करके केवल भोग-विलास की प्राप्ति में ही जीवन बिताये, तो फिर उसको मनुष्य कैसे कहा जाये? वह तो मनुष्य के चोले में पशु है; यूं समझना चाहिए. □

करो, उसका आनन्द लो, और उनका जो चाहो करो, लेकिन ईश्वर के लिए मुझ पर दया करो, मेरी साधना में बाधा मत डालो. मैं जिस सत्य की खोज में चल पड़ा हूं, मुझे उस डगर से नीचे मत गिराओ, बस, इतनी ही मेरी प्रार्थना और बिनती है."

ऐ मानव चेत, अगर तेरी आँखें तेरे सत्य मार्ग में रोड़ा बन रही हैं, तो उन्हें निकाल फ़ेंक, क्योंकि उनकी ज्योति से प्रकाश पाने की अपेक्षा अंधकार की ओर बढ़ते जाना तो उनकी सार्थकता नहीं है, यही नहीं, आध्यात्मिक साधना में जहां कहीं व्यवधान पड़े, उससे विरत हो जाना ही बुद्धिमानी है. अगर मनुष्य अपने सगे-सम्बन्धियों के प्रति स्नेह का थोड़ा अंश भी आत्मचिन्तन और भगवत्प्राप्ति में लगाये, तो उसे सच्चा ज्ञान अवश्य मिलेगा. □

मिथ्या चमत्कार ?

□ स्वामी करपात्री महाराज

जीवन चरित्र एक प्रकार का इतिहास ही है. इतिहास गड़े-मुर्दों उखाड़ने जैसी पुरानी बातों का उदाहरण मात्र नहीं होता, किन्तु जिन सत्य घटनाओं से समाज या राष्ट्रों को आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनीतिक अभ्युत्थान के लिए शिक्षा एवं प्रोत्साहन मिलता हो, उन्हीं घटनाओं का दोहराना इतिहास कहा जा सकता है. जैसे प्रत्येक नगर के मनुष्यों के जन्म एवं मरण का लेखा-जोखा होता है, परन्तु साधारण कीट-पतंगों का लेखा-जोखा नहीं रखा जाता है, इसलिए कि वह महत्वपूर्ण नहीं है, उन सामान्य व्यक्तियों का भी इतिहास में उल्लेख नहीं होता, किन्तु विशिष्ट लोगों का ही होता है इस सम्बन्ध में भी कूट नीति चलती है. आंखों देखी घटनाओं का भी वर्णन विभिन्न राजनीतिक पत्र विभिन्न रूप से करते हैं. झूठ को सत्य एवं सत्य को झूठ बनाना कूटनीतिज्ञों के इतिहास का कार्य हो गया है.

आध्यात्मिक, धार्मिक, महापुरुषों के जीवन चरित्रों के सम्बन्ध में प्राय: विश्वास किया जाता था कि इनमें मिथ्या अंश नहीं होता. प्राय: जब किसी मृत व्यक्ति के सम्बन्ध में कोई महात्मा या अन्वेषक लिखता है, तो वह सत्य ही लिखने का प्रयत्न करता है, परन्तु अब ऐसा भी चलने लगा है कि जीवित व्यक्ति के अनुयायी या भक्त अथवा वह स्वयं ही प्रयत्न करके सुन्दर चमत्कारपूर्ण जीवन चरित्र लिखाने का प्रयत्न करते है. उनमें अधिकांश सिद्धि और चमत्कार की बातें लिखी जाती हैं, जिनसे जनता प्रभावित हो. पहले कि अपेक्षा अब अवतारों की भरमार होती होती जा रही है. आये दिन अनेक अवतारों के पत्र मेरे पास समर्थन के लिए आते है. आजकल अनेक महात्मा के रूप में अवतार बताये जाते हैं. उनके उपासक भी साधारण लोग नहीं, बड़े-बड़े प्रतिष्ठित आधुनिक विद्वान भी बनते हैं. कई स्त्री एवं पुरुष महात्माओं को

उक्तियों को मन्त्र मानकर टिप्पणी कराई जा रही है. जो जितना अधिक धनवान्, ऐश्वर्यशाली एवं रहस्यपूर्ण ढंग से रहने वाला हो, वही बड़ा महात्मा माना जाता है. यद्यपि नोट बना लेना, स्वर्ण बना लेना, कानूनी दृष्टि से अपराध है, परन्तु आज की सिद्धियां इसका ज्वलन्त उदाहरण हैं.

इतना ही नहीं, इन्कमटैक्स विभाग को सब हिसाब देना अनिवार्य होता है, उसके लिए आय – व्यय का अलौकिक तरीका ही दिखलाना पड़ता है, फिर भी, जैसे सट्टेबाज सुल्फेबाजों के अन्ध-ज्ञान पर विश्वास कर लेते हैं, वैसे ही स्वार्थान्ध भक्त ऐसी सिद्धियों में विश्वास कर लेते हैं. एक दिन एक महात्मा के सामने जो बहुत बीमार थे, और जिनकी बीमारी का उपचार डाक्टर-वैद्य लोग कर रहे थे, एक स्त्री ने कहा—'महाराज के सिर्फ कह देने से मेरी २० वर्ष की बीमारी दूर हो गई'. परन्तु महात्मा को अन्त में देह त्यागना ही था. आजकल किसी को विद्वान, योगी, सिद्ध, और नब्बे से लेकर चार सौ, पाँच सौ की आयु वाला बता देना — लिख देना साधारण सी बात हो गई है. मरने तक एक-एक की सिद्धियों का भन्डाफोड़ होता रहता है, तथापि अन्धविश्वासी अपने विश्वास पर अटल रहता है. वह महात्मा की आज्ञा के अनुसार दुराचार, झूठ, बेईमानी भले न छोड़ सके, परन्तु आज्ञानुसार शास्त्र-विरुद्ध कर्म करने में नहीं हिचकेगा भले उससे समाज या राष्ट्र का नुकसान ही हो, परन्तु उसको सहारा है गुरु की आज्ञा का. □

अपने आपको शक्तिहीन और दुर्बल समझकर तुम लोग जिस मोह के पर्दे में छिप रहे हो, उसे फाड़ डालो. वास्तव में कोई भी दुर्बल नहीं है. आत्मा अनन्त, सर्वशक्ति-सम्पन्न और सर्वज्ञ है, इसलिए उठो, अपने वास्तविक रूप को प्रकट करो. तुम्हारे अन्दर जो भगवान हैं, उनकी सत्ता की ऊँचे स्वर में घोषणा करो — उन्हें अस्वीकार मत करो. ··· मोह के इस जाल के धागों को काट डालो.

दान

दान दुष्कर कार्य है. लोगों को लोभ अधिक होता है और धन मिलता भी बड़े कष्ट से है. अतः दुःख सहकर कमाये हुए धन का परित्याग करना अत्यन्त कठिन है. इसलिए सभी धर्मों में दान ही सर्वश्रेष्ठ है. शास्त्रों में धन की तीन गतियों का वर्णन मिलता है, उनमें दान सर्वप्रथम है, ...धन की दान, भोग और नाश — ये तीन गतियां होती हैं. जो न देता है, न भोग करता है, उसकी तीसरी गति (नाश) होती है.

प्रतिदिन अपने प्रति उपकार न करने वाले ब्राह्मण को जो कुछ दिया जाता है और उससे फल की आशा नहीं की जाती, उसे 'नित्य' दान कहते हैं. पापों की शान्ति के लिए जो विद्वानों के हाथ में दिया जाता है, वह सत्पुरुषों द्वारा अनुष्ठित दान 'नैमित्तिक' कहा जाता है. अपत्य (सन्तान), विजय, ऐश्वर्य अथवा स्वर्ग प्राप्ति के लिए जो दान दिया जाता है उसे धर्मचिन्तक ऋषियों ने 'काम्य' नाम से अभिहित किया है. जो ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए चित्त से ब्रह्मवेत्ता ब्रह्माणों को दिया जाता है, वह कल्याणकारी दान 'विमल' कहलाता है.

... विभिन्न वस्तुओं के दान के स्वरूप भिन्न-भिन्न होते हैं और उनके फल में भी भिन्नता होती है ऐसे दानों में कुछ दान महादान कहलाते हैं, जैसे पृथ्वी दान, गो-दान, स्वर्ण दान, कन्या दान आदि. इन महादानों से भी बढ़कर एक सर्वोत्कृष्ट दान होता है, जिसमें सर्वस्व दान कर दिया जाता है. ऐसे सर्वस्वदानी चक्रवर्ती सम्राटों की गाथाएँ हिन्दू-धर्मशास्त्रों में भरी पड़ी हैं.

दान की एक शृंखला, एक लड़ी का नाम है —जीवन ! जो जितना ही देता है, उसका जीवन उतना ही सार्थक है. कहा तो यहाँ तक जा सकता है कि अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड दान के आधार पर ही टिका हुआ है.

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो अपने आपको अपने सब कुछ के साथ भगवान् के चरणों मेंसमर्पित कर देते हैं–अपनी आत्मा, जीवन, कर्म, धन–सम्पत्ति—सब–का–सब वे भगवान् के चरणों में नैवेद्य के रूप में चढ़ा देते हैं. यही है सच्चा आत्मदान ! इस आत्मदान के बिना भगवान् को निवेदित की हुई किसी भी वस्तु का कोई महत्व नहीं है, क्योंकि महत्व पदार्थ में नहीं है, उसके पीछे जुड़ी हुई भावना में हैं. भावना जितनी दिव्य होगी, दान उतना ही महान् होगा.

आत्मदान तभी सच्चा आत्मदान कहा जा सकता है, जब वह आनन्दोल्लास के साथ हो.

हम तब तक अपनी शक्ति और क्षमताओं से अपरिचित ही रहते हैं, जब तक उन्हें भगवत्कार्य में लगने का अवसर नहीं प्रदान करते. यह भंडार ऐसा है, जो देने से ही बढ़ता है—जो जितना देता है, उसका उतना ही बढ़ता है, जो जितना लुटाता है, वह उतना ही पाता है.…

…भगवान् ने जो वस्तु दे रखी है, उसका सदुपयोग न करने के कारण ही पाप और उस पाप से भय का उदय होता है… भगवान् को अपना कार्य, अपना संकल्प पूरा करने में हमें अपनी ओर से किसी प्रकार की भी रुकावट नहीं डालनी चाहिए. स्वार्थवश जहाँ भी हमने रुकावट डालने की चेष्टा की कि हम छिन्न–भिन्न, ग्रस्त–व्यस्त हो जायेंगे. भगवान् का संकल्प तो पूरा होकर ही रहेगा.…यह सब कुछ वस्तुतः है भगवान् का ही. हम उसके भोक्ता नहीं हैं, रक्षक मात्र हैं. धन-दौलत, 'मालिक' की है, यह जीवन भी मालिक का है….

…अतः साधना होनी चाहिए देने की, न की ग्रहण करने की. ग्रहण की ओर ताकते ही मनुष्य अपनी भगवत्ता से भटककर भिखारी बन जाता है.

आवश्यकता है कि हम अपने भीतर दैवी विभूतियों का दान–दम–अभय का विकास करें और इस प्रकार विश्व-कल्याण में अपना सच्चा और आन्तरिक योग प्रदान करें. भयग्रस्त एवं आपदग्रस्त मानवता की वास्तविक मुक्ति का एक–मात्र यही मार्ग है.…

…समय और सुयोग की प्रतीक्षा न कर हमें इस पवित्र अनुष्ठान में अविलम्ब लग जाना चाहिए. इसी में हमारा और विश्व का वास्तविक कल्याण है.

संसार अभाव, अशान्ति कलह आदि से कराह रहा है. वह प्रेम की एक बूंद के लिए तड़प रहा है. मानवता आज पशुता को भी लांघ गयी है. क्या ऐसे समय में हममें से कुछ के भीतर भी वह 'देवत्व' जाग्रत नहीं होगा, जिसके बल पर हम इस अंहकार का उच्छेद कर सकें. और इस धराधाम पर भगवान् का राज्य स्थापित कर सकें.

——

...जो लोग कल्याण-साधन में विघ्न रूप जानकर अपनी आजीविका के लिए धन कमाने का उद्योग छोड़कर, गृहस्थ या साधुवेष में ईश्वर के आधार पर जीवन बिताते हैं, उनको अपनी शक्ति के अनुसार धन या साधन के द्वारा सेवा करें. यही सत्पात्र को दान देना कहलाता है. यह श्रेष्ठ दान है, इसका बहुत फल होता है. ईश्वर के सहारे रहने वाले व्यक्ति को आवश्यकताओं की पूर्ति जिस दिन से होती है उसकी महिमा का पार कोई नहीं पा सकता.

——

इस कोठरी की जितनी हवा बाहर निकलती रहेगी उतनी ही ताजी हवा पुन: इसमें आती जायेगी और इसके दरवाजे आप बन्द कर देंगे, तो बाहर से हवा आना तो दूर रहा, इसी में की हवा विषाक्त होकर आपको मृत्यु के अधीन कर देगी. आप जितना अधिक देंगे उससे हजार गुना प्रकृति से आप पायेंगे. परन्तु उसे पाने के लिए धीरज रखना होगा.

——

सद्गृहस्थ के लिए यह नैतिक विधान है, कि वह जितनी बन सकें, दान द्वारा अतिथि की सहायता करें. भिक्षुक को यथाशक्ति भिक्षा देकर तृप्त करें.

दान ऊंची सीमाओं से नहीं, प्रत्युत उसके पीछे रहने वाली उदात्त भावना से ही पावन बनता है.

——

दान यदि गुप्त रुप से हो तो सर्वोत्तम है. तीर्थ में, पर्व के समय, पुण्य तिथियों पर, माता-आदि के श्राद्ध के दिन भी दान करें.

धन, जमीन, अन्न, वस्त्र, जल, दवा सत्परार्श, आश्रय, अभय, मधुर बचन, मार्ग-दर्शन — जिसके पास जो हो, जितने परिमाण में हो—वह उतने ही परिमाण में आवश्यकतानुसार नम्रता तथा सम्मान के साथ दान करे.

शिव अपराध क्षमापन स्तोत्रम्

स्नात्वा प्रत्यूषकालं स्तुवनविधौ नाहृतं गागतोयम्.
पूजार्थं व कदाचित् बहुतरगतनातवण्ड विल्वी दलानि.
नानीता पद्मकाल्य सरसि विकसिता गन्ध धूपौ त्वदर्थं
क्षन्तव्यो मेऽपराधशिव शिव भो श्रीमहादेव शम्भो.

अर्थ : हे महादेव शम्भो ! सूर्योदय से बहुत पूर्व स्वयं स्नान करके न तो मैं आपके अभिषेक के लिए पवित्र गंगा जल ही लेकर आया हूं और न बन से ताजा त्रिदल विल्व पत्र ही मैं अपनी पूजा के लिए लेकर आया हूं, सरोवर से कमल एवं अन्य पुष्पों की माला बनाकर तथा चन्दन धूपादि का मैं सुगन्धि युक्त लेप करने के लिए अपने साथ नहीं लाया हूं. अत: मेरे इन अपराधों को क्षमा कीजिए.

व्याख्या : भगवान शिव का आराधर सामान्यत: सूर्योदय से बहुत पहले निद्रा का त्याग करके स्वयं पवित्र गंगा-जल में (यदि यह समीप बह रही है) स्नान करता है और भगवान को अर्पण करने के लिए एक स्वच्छ पात्र में भर कर गंगा-जल ले जाता है, इससे वह अपने हाथों से शिव पिण्डी को स्नान कराता है, वह अपने साथ अर्चना के लिए कमल तथा अन्य सुन्दर पुष्पों की माला गूंथ कर ले जाता है और सुवास वाला चन्दन, धूपादि भी ले लेता है इस तरह वह विधिपूर्वक पूजा करता है. पूजा के लिए प्राय: सोलह साधन उपयोग में लाये जाते हैं, ये उपचार इस प्रकार हैं.

१- आसन (आवाहन द्वारा प्रतिष्ठित करना),
२- पाद्य (चरण प्रक्षालन के लिए जल), ३- अर्घ्यम्
४- स्नानम् (शास्त्रोक्त विधि से स्नान कराना) ५- वस्त्रम्
६- यज्ञोपवीतम्. ७- दिव्य गन्धम् (सुगन्धित चन्दन, धूपादि)
८- अक्षत (हल्दी के लेप वाले बिना टूटे चावल) ९- पुष्पम्
त्रिदल विल्व पत्र, चमेली, कमल जैसे सुन्दर सुवासित फूल),

१०– सुगन्धि युक्त धूप, ११- दीप (रुई की बत्ती वाला शुद्धघृत वाला दीपक) १२- नैवेद्य (शुद्ध भोज्य पदार्थ) १३– ताम्बूल (पान का पत्ता) तथा सुपारी १४- कपूंर (कपूर की बत्तो) १५– प्रदक्षिणा (आराध्यदेव की प्रतिमा की प्रदक्षिणा) १६– नमस्कारम् (देवाधिदेव को सास्टांग प्रणाम करना)

आचार्यप्रवर ने इस श्लोक में इनमें से केवल चार उपचारों का यहाँ उल्लेख किया है:—

विधि पूर्वक अभिषेक सुगन्धित, चन्दनादि का लेप, भिन्न-भिन्न प्रकार के पुष्पों की माला और धूप दिखाना. भक्त भगवान से निवेदन करता है कि मैंने स्वयं स्नान नहीं किया. महादेव के स्नानार्थं पावन मैं भगवती भागीरथी का जल भी नहीं लाया, पुष्प माला, चन्दन, धूपादि अर्पण नहीं की, यहाँ उनका संकेत् ऐसे व्यक्तियों की ओर है जो अज्ञानवश ये चार अर्पण नहीं करते हैं और न ही भगवान को समुचित रूप से स्मरण ही करते हैं, जिस जीवन में इस प्रकार असावधानी बरतते हुए परमकृपालु परमात्मा की अर्चना नहीं की जाती वह जीवन सर्वथा निष्फल है, भगवान ने यह अमूल्य मानव-निधि परि प्रदान किया है, जिसका समुचित सदुपयोग न करना घोर अपराध है जिसके लिए परमपूज्य शंकर ने स्वयं प्रार्थना करते हुए श्रद्धा याचना की है क्योंकि ऐसे जीवन से मानव के वास्तविक उद्धेश्य की पूर्ति नहीं होती है. अज्ञान (माया) के वशीभूत ऐसे प्राणियों को उनके द्वारा यह उपदेश दिया जाता है कि परमदेव को विस्मृत करके वे अपना जीवन नष्ट न करें, यदि मनुष्य को इस बात का ध्यान आ जाता है कि उसे ऐसे जीवन का निर्माण करना है, तो वह भगवान की आराधना करे और अपनी कृतघ्नता के लिए पश्चाताप करके निज शेष जीवन सही ढंग से व्यतीत करने के लिए उसे कृतसंकल्प हो जाना चाहिए, परमात्मा उसे वैभव, प्रसन्नता आदि से समृद्ध कर देता है, यहां इस बात पर बल दिया जा रहा है कि मनुष्य को

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः

४ दिसम्बर १९५५. इसी दिन 'स्वामी रामतीर्थ मिशन' के संस्थापक रामरूप सद्गुरुदेव श्री स्वामी हरिओऽम् जी महाराज ब्रह्मलीन हुए थे. तभी से रामदरबार 'राजपुर आश्रम' के प्रांगण में इस दिन को 'ओमस्मृति' के रूप में मनाता आ रहा हूं.

वर्तमान परमाध्यक्ष आचार्य श्री स्वामी अमरमुनि जी महाराज के सम्पन्न हो रहे इस स्मृति दिवस में आप भी अवश्य सम्मिलित होकर उस महान व्यक्तित्व के श्री चरणों में अपने भावपुष्प समर्पित करेंगे.

कार्यक्रम

३ दिसम्बरः—प्रातः ९ बजे अखण्ड मानस पाठ आरम्भ.

४ दिसम्बरः—प्रातः ७ बजे से हवन, समाधि पूजन.
गीताविष्णुसमस्तनामपाठारंभ
१० बजे आश्रम पूर्णाहुति
१०.३० बजे से भजन, व वाक्श्रद्धांज़लियां
१२.३० बजे समष्टिभोज

समुचित ईश-चिन्तन के साथ किसी महान् सत्पुरुष की सेवा में लग जाना चाहिए. जो समय अर्चना-वन्दना में व्यतीत होता है, वही भगवान का चिन्तन है. इस क़ोटि का भक्त यथार्थ में मनुष्य कहलाने के योग्य है. ज्ञान की प्राप्ति के लिए गति स्थल में सूक्ष्म की ओर होती है, ऐसे ही मूर्तिमान परमात्मा की पूजा करना दूसरी प्रथम कड़ी है. इसके बाद ही हम सर्वव्यापक, परमात्मदेव को सूक्ष्म रूप में जानने लगेंगे. आचार्य चाहते हैं कि हम अभी अपनी इस पहली मंजिल को तय करने में जुट जायें.

□ श्री अनन्त रामन जी

उपवास

धार्मिक पद्धतियों में एकादशी का उपवास आज के नवशिक्षितों के उपहास का विषय बना हुआ है. पर अब यूरोप और अमेरिका के डॉक्टरों का भी ध्यान उपवास के महत्व पर आ गया है और उनके विचार उपवास के अनुकूल हो गये हैं. आज उनकी मान्यता यह है कि उपवास रोगों को नष्ट करने वाला तथा उनका प्रतिबन्धक है. डाक्टरों की इस मान्यता की प्रतिध्वनि आज भारत में भी जहां-तहां सुनाई देती है और अब लोग उपवास सम्बन्धी साहित्य को पढ़ने में अपनी रुचि भी दर्शाते हैं....

...महात्मा गांधी उपवास के एक महान् भक्त थे, उन्होंने अपने जीवन में कई बार उपवास किया. उनका भी अनुभव यही था कि उपवास से शरीर निर्मल होता है और रोगाणु नष्ट हो जाते हैं, परिणामस्वरूप मनुष्य रोगों से बच जाता है....

शिक्षित मनुष्य परमेश्वर की भक्ति के नाम पर भले ही चाहे उपवास न करें, पर आरोग्य के लिए उपवास करने में वे भी नहीं हिचकिचायेंगे.

यह तो निश्चित है कि उपवास आरोग्य का एक उत्तम उपाय है. पर प्रश्न यह है कि किया किस दिन जाये?

प्राचीन ग्रन्थों में एकादशी के उपवास का बड़ा महत्व दिखायी पड़ता है. इस दिन के उपवास से विष्णु प्रसन्न होते हैं, ऐसा वैष्णव ग्रन्थों में लिखा मिलता है...

प्राचीन ग्रन्थों में तिथियों के और उनमें भी एकादशी का जितना माहात्म्य मिलता है उतना वारों के उपवास का नहीं.

तिथि का दिन जाने बिना तिथि सम्बन्धी उपवास करना मनुष्य के लिए असम्भव ही है. आज तो शिक्षितों को भी तिथियों का ज्ञान नहीं होता, फिर अशिक्षितों का तो कहना ही क्या? इस अड़चन को दूर करने के लिए वारों के उपवासों का प्रचलन हुआ

और उपास्यों के भेद के कारण प्रत्येक वार के उपवास आरम्भ हुए...

...आज धार्मिक कथाओं का सुनना-सुनाना जो पुराने लोग करते हैं, उन कथाओं का तत्व प्राय: समझ में नहीं आता, पर वे श्रद्धा से अवश्य करते हैं. इसके विपरीत आज के लोग केवल उपवास का विरोध करते हैं और वह भी बिना तत्व विवेचन किये ही ... आज की नास्तिकता का कारण धर्म के प्रति उदासीनता है, तत्व-विवेचना नहीं.

चन्द्रकला की वृद्धि और क्षय के साथ वनस्पति और प्राणियों में रहने वाले अंगों के रस की वृद्धि और क्षय का सम्बन्ध है, यद्यपि वैदिक शास्त्रज्ञों ने अब थोड़ा-सा इस बात को स्वीकार किया है. इससे यह ज्ञात होता है कि तिथि-वार उपवासों से आरोग्य का विशेष सम्बन्ध है. चन्द्रकला की वृद्धि के साथ तिथियों का जैसा सम्बन्ध है, वैसा वारों का नहीं.... तिथियों में चन्द्रमा की स्थिति सदा निश्चित रहती है. इस लिए चन्द्र की उस स्थिति का प्रभाव शरीर पर पड़ना स्वाभाविक ही है. अतएव विशिष्ट तिथि पर उपवास करने से यदि लाभ होने वाला है, तो वह अवश्य ही होगा.

सूर्य से इस पृथ्वी पर विपुल मात्रा में जीवनी शक्ति प्राप्त होती है. यदि उसमें जरा-सी भी न्यूनता आ जाय तो मनुष्य के आरोग्य पर उसका बड़ा अनिष्टकारक परिणाम होता है. कुछ दिन यदि बराबर बादल छाए रहें और सूर्य-दर्शन जरा भी न हो तो अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं.

आधुनिक भौतिक शास्त्र के आधार पर भी सिद्ध हो चुका है कि सूर्य जीवनीशक्ति का पुन्ज है. इसलिए वह धनशक्ति का केन्द्र है. चन्द्र की स्थिति इससे उल्टी है. पर-प्रकाशी होने के कारण अपना प्रकाश वह सूर्य से प्राप्त करता है, इसलिए वह सूर्य का ऋणी है इस प्रकार सूर्य धनी और चन्द्रमा ऋणी है. अमावस्या के दिन ऋण-शक्ति वाला चन्द्र सूर्य और पृथ्वी के बीच में आ जाता है. इस

लिए पृथ्वी पर सूर्य से आने वाली जीवनीशक्ति उस दिन कम हो जाती है. सूर्यग्रहण इसी दिन पड़ता है; इस कारण से पृथ्वी पर आने वाली सूर्य की जीवनी शक्ति बहुत कम हो जाती है. इससे अनेक जीवाणु मर जाते हैं, ऐसा आधुनिक शास्त्रज्ञों का मत है. प्रति अमावस्या को सूर्य की जीवन-शक्ति के कम मात्रा में प्राप्त होने का भी यही कारण है ऋग्वेद का कथन् है —

'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'

'सूर्य जंगम, चलने वाले और स्थावर, न चलने वाले जगत् की आत्मा है'. वह अपनी शक्ति से स्थावर और जंगम जगत् को पूर्ण करता है, इससे यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि जिस-जिस प्रमाण में सूर्य और पृथ्वी के बीच चन्द्र आता जायेगा, उस-उस प्रमाण में उससे प्राप्त होने वाली जीवनीशक्ति भी कम होती जायेगी. ...

...अष्टमी के दिन मिलने वाली सूर्य की जीवनीशक्ति अधिक पूर्ण और निर्दोष होती है. आकर्षण के कारण रक्त परिभ्रमण (Circulation of Blood) पर होने वाले अनिष्ट परिणाम इस दिन कम ही होते हैं....इन पाक्षिक अनिष्ट परिणामों से अथवा रोगाणुओं के बढ़ने की सम्भावना से मनुष्यों की रक्षा हो, इसलिए कुछ उपाय करना आवश्यक था. वह उपाय एकादशी के उपवास के रूप में शास्त्रज्ञों ने लोगों के सामने रखा.... □

❀ वासना का चिन्ह मात्र भी रह जाने पर भगवान् प्राप्त नहीं होते. धागे में यदि जरा भी गांठ पड़ी हो, तो सुई के छेद में नहीं डाला जा सकता. मन जब वासना रहित होकर ग्रन्थि रहित हो जाता है, तभी वह सर्वत्र अनुस्यूत स्वरूप की अनुभूति कर सकता है. अन्यथा नहीं.

—स्वामी विवेकानन्द

ETHICS

1. **That society is the greatest, where the highest truths become practical.** That is my opinion, and if society is not fit for the highest truths, make it so, and the sooner, the better. Stand up, men and women, in this spirit, dare to believe in the Truth, dare to practise the Truth! (II.85.)

2. Who knows which is the truer ideal? The apparent power and strength, as held in the West, or the fortitude in suffering, of the East?

The West says: "We minimise evil by conquering it." India says: "We destroy evil by suffering, until evil is nothing to ns, it becomes positive enjoyment" Well, both are great ideals. Who knows which will survive in the long run? Who knows which will survive in the long run? Who knows which attitude will really most benefit humanity? Who knows which will disarm and conquer animality? Will it be suffering, or doing?

In the meantime, let us not destroy each other's ideals. We are both intent upon the same work, which is the annihilation of evil. You take up your method; let us take up our method Let us not destroy the ideal. I do not say to the West. "Take up our method." Certainly not. The goal is the same, bnt the methods can never be the same. And so, after hearing about the ideals of India, I hope that you will say in the same breath to India: "We know the goal, the ideal, is all right for us both. You follow your own ideal. You follow your method in your own way, and God speed you!" My message in life is to ask the East nnd West not to quarrel over different ideals, but to show them that the goal is the same in both cases, however opposite it may appear. As we wend our way through this mazy vale of life, let us bid each other Godspeed. (IV. 76-77)

3. The work of ethics has been, and will be in the future, not the destruction of variation and the establishment of sameness in the external world, which is impossible, for it would bring death and annihilation—bnt ro recognise the unity in spite of all these variations, to recognise the God within, spite of everything that frightens us, to recogise the infinite strength

as the property of everyone in spite of all apparent weakness, and to recognise the eternal, infinite, essential purity of the soul ie spite of everything to the contrary that appears on the surface. (I. 436)

4. Coming to ethics, we find a tremendous departure. It is, perhaps, the only science which makes a bolddepartura from this fight. For ethics is unity, its basis is love. It will not look at this variation. The one aim of ethics is this unity, this sameness. The highest ethical codes that mankind has discovered up to the present time, know no veriation, they have no time to stop to look into it; their one end is to make for that sameness. The Indian mind, being more analytical— I mean the Vedantic mind—found this unity as the result of all its analysis, and wanted to base everything upon this one idea of unity. (I. 432.)

5. Karma-Yoga, therefore, is a system of ethics and religion intended to attain freedom through unselfishness, and by good works. The Karma Yogi need not believe in any doctrine whatever. He may not believe even in God, may not ask what his soul is, not think of any metaphysical speculation. He has got his own special aim of realising selflessness; and he has to work it out himself. Every moment of his life must be realisation because he has to solve by mere work, without the help of doctorine or theory, the very same problem to which the Jnani applies his reason and inspiration and the Bhakta his love. (I.111.)

6. In modern times this millennial aspiration takes the form of equality — of liberty. equality and fraternity. This is also fanaticism. True equality has never been and never can be on earth. How can we all be equal here? This impossible kind of equality implies total death. (I. 113)

7. Yet this idea of realising the millennium is a great motive power. Just as inequality is necessary for creation itself, so the struggle to limit it is also necessary. If there were no struggle to become free and get back to God, there would be no creation either. It is the difference between these two forces that determines the nature of the motives of men. There will always be these motives to work, some tending towards bond-

age and others towards freedom. (I. 115.)

8. That some will be stronger physically than others, and will thus naturally be able to subdue or defeat the weak, is a self-evident fact, but that because of this strength they should gather unto themselves all the attainable happiness of this life, is not according to law, and the fight has been against it. That some people through natural aptitude, should be able to accumulate more wealth than others, is natural, but that on account of this power to acquire wealth they should tyrannise and ride roughshod over those who cannot acquire so much wealth, is not a part of the law, and the fight has been against that. The enjoyment of advantage over another is privilege, and througout ages, the aim of morality has been its destruction. This is the work which tends toward sameness, towards unity, without destroying variety. (I. 435.)

9. Change is always subjective. All through evolution you find that the conquest of nature comes by change in the subject. Apply this two religion and morality, and you will find that the conquest of evil comes by the change in the subjective alone. That is how the Advaita system gets its whole force, on the subjective side of man. To talk of evil and misery is nonsense, because they do not exist outside. If I am immune against all anger, I never feel angry. If I am proof against all hatred, I never feel hatred. (II. 137-38.)

10. Good and evil are only a question of degree: more manifested or less manifested. Just take the example of our own lives. How many things we see in our childhood which we think to be good, but which really are evil, and how many things seem to be evilwhich are good! How the ideas change! How an idea goes up and up! What we thought very good at one time we do not think so good now. So good and evil are but superstition, and do not exist. The difference is only in degree. It is all a manifestation of that Atman; He is being manifested in everything; only, when the manifestation is very thick we call it evil, and when it is very thin we call it good. (II. 420.)

11. Ethics always says, "Not I but thou." Its motto is, "Not self, ,but non-self." The vain ideas of individualism to which man clings when he is trying to find that Infinite Power or, that Infinite Pleasure through the senses, have to be given

up, say the laws of ethics. You have to put yourself last, and others before you. The senses say, "Myself first." Ethics says, "I must hold myself first." Ethics, says, "I must hold myself last" Thus, all codes of ethics are based upon this renunciation, destruction, not construction, of the individual on the material plane. That Infinite will never find expression upon the material plane, nor is it possible or thinkable (II. 62-63.)

12. The great error in all ethical systems, without exception, has been the failure of teaching the means by which man could refrain from doing evil. All the systems of ethics teach, "Do not steal ! " Very good; but why does a man steal? Because all stealing, robbing, and other evil actions, as a rule, have become automatic. The systematic, robber, thief, liar, unjust man and woman, are all these in spite of themselves! It is really a tremendous psychological problem. We should look upon man in the most charitable light. It is not so easy to be good. What are you but mere machines until you are free? Should you be proud because you are good? Certainly not. You are good because you cannot help it. Another is bad because he cannot help it. If you were in his position, who knows what you would have been? The woman in the street, or the thief in the jail, is the Christ that is being sacrificed that you may be a good man. Such is the law of balance. All the thieves and the murderers, all the unjust, the weakest, the wickedest, the devils, they all are my Christ ! I owe a worship to the God Christ and to the demon Christ ! That is my doctrine, I cannot help it. My salutation goes to the feet of the good, the saintly, and to the feet of the wicked and the devilish ! They are all my teachers, all are my spiritual fathers, all are my Saviours. I may curse one and yet benefit by his failings; I may bless another and benefit by his good deeds. This is as true as that I stand here. I have to sneer at the woman walking in the street, because society wants it! She, my Saviour, she, whose street - walking is the cause of the chastity of other women! Think of that. Think, men and women, of this question in your mind. It is a truth — a bare, bold truth! As I see more of the world, see mare of men and women, this conviction grows stronger. Whom shall I blame? Whom shall I praise? Both sides of the shield must be seen. (II. 33-34.)

आश्रम समाचार

अजमल खां पार्क के समीप निर्मित 'श्री गंगेश्वर धाम' में श्री बाल्मीकी रामायण के माध्यम से रामप्रेमियों को महाराज श्री ने भारतीय संस्कृति, परम्परा का स्वरूप समझाया. पूर्णाहुति के साथ ही आचार्य प्रवर ने प्रयागराज की ओर प्रस्थान किया. वहाँ चार दिन निवास कर प्रयागराज की शाखा के सम्बन्ध में 'प्रयाग मिशन' के कार्यकताओं से आपने विचार-विमर्श किया. ११ की सुबह आप राजपुर आश्रम पधारे.

महाराज श्री की उपस्थिति मात्र से ही कोई एक सप्ताह सप्ताह से लगातार घिरे आ रहे बादल छंट गये. सूरज पर घिरा उघर गया. इस दौरान महाराजश्री एक दिन के लिए हरिद्वार भी गये. १७ की शाम महाराज श्री ने श्री प्रदीप के शुभ विवाह के निमित्त रखे गये 'राम चरित मानस की पूर्णाहुति में भाग लिया. 'अर्धनारीश्वर' के प्रत्यय को समझाते हुए महाराज श्री ने बताया कि 'पत्ति-पत्नी का सम्बन्ध शरीर आत्मा का सा होता है. पति शरीर है और पत्नी आत्मा'.

'दोनों पारिवारिक मर्यादाओं का पालन करते हुए जीवन के समस्त ऋणों से मुक्त हो' यह शुभाशीष दी.

इसी दिन 'रात्रिसेवा' से आपने दिल्ली प्रस्थान किया. दिल्ली से 'कैथल सम्मेलन में भाग लेने के बाद आपका कार्यक्रम २५ को सायं कोटला पहुंचने का था, परन्तु दुखद घटना की वजह से आपको दिल्ली ही रूकना पड़ा. १५ अक्टूबर को दिल्ली में अपने निवास स्थान पर शिवभक्त, मिशन के अनन्यप्रेमी श्री दिवान चन्द साहनी अपने पार्थिव शरीर का परित्याग कर सदाशिव में लीन हो गये. २६ को महाराज श्री ने श्री साहनी साहब को अनन्य भक्ति का वर्णन करते हुए रामचरणों में गतात्मा की 'शांति' व इस दुःख भरे आये समय को परिवार के सदस्यों द्वारा धैर्यपूर्वक सहन करने की प्रार्थना की.

दूरभाष : [८४२२५ राजपुर
२४२९७ देहरादून

रजि० नं०, डी०एन० १५
तार का पता—वेदांत

२६ अक्टूबर. कोटला सम्मेलन का दूसरा दिन. आचार्यप्रवर का सुबह की पौ फटते ही 'कोटला मिशन' के प्रांगण में पदार्पण हुआ. दिल्ली से रामप्रेमियों का आगमन २६ को दोपहर में ही हो चुका था. मां अयोध्या का हृदय आह्लाद से भरा था. सम्मेलन में 'मनुष्य जन्म की कृतकृत्यता', 'जगत, माया का स्वरूप', 'जगत में हमारा स्वरूप', 'स्वामी राम के व्यवहार के प्रति वेदांत दृष्टि', जैसे विषयों पर सम्मेलन में पधारे महापुरुषों ने प्रवचन दिये.

आचार्य प्रवर श्री स्वामी अमरमुनि जी महाराज के तत्वाधान में सम्पन्न हुए इस सम्मेलन में जालन्धर से म० मं० श्री स्वामी निरंजनानन्द जी महाराज, हरिद्वार से श्री स्वामी हरिहरानन्द जी महाराज, दिल्ली से बहन डॉ० कमलेश भारती, नैमिष्यारण्य से श्री सियाराम जी आदि प्रवक्ताओं ने पधार कर सम्मेलन की शोभा बढ़ायी.

दिल्ली मिशन की प्रधाना माता मेला देवी जी मलहोत्रा ने कोटला निवासियों के भाग्य की सराहना की. कारण, हम घोंट्ट जीवन परम स्वतन्त्रता की सांस लेने का साधन जो उन्हें महापुरुषों के मुखारविंद से सबको श्रवण करने का सुअवसर मिला. 'अयोध्या' ने राम को धारण किया था.

२८ को सम्मेलन की पूर्णाहुति हुई. 'ओम' ध्वज फहराया गया एकत्व का प्रतिपादन ही तो हमारा संकल्प है.

३० की सुबह महाराज श्री ने चन्डीगढ़ प्रस्थान किया. महाराजश्री इस दौरान राजपुर आश्रम भी जाना चाहते थे, पर मुकेरियां के पास हुए 'चक्का जाम' की वजह से उन्हें कार्यक्रम में परिवर्तन करना पड़ा. ३१ की सुबह योगेन्द्रा माता जी के सुपुत्र की फैक्ट्री में पदार्पण करने के बाद आप दिल्ली होते हुए अलीगढ़ पहुंचे.

आश्रम शिवस्वरूप बाबा विश्वनाथ यति जी महाराज की उपस्थिति से शोभायमान हो गया.

मौसम और हवा में सिहरन आ गयी है. □

स्वामी रामतीर्थ मिशन राजपुर, देहरादून २४८००९ के लिए प्रकाशक स्वामी अमरमुनि द्वारा उर्वशी प्रिन्टर्स ११/१० राजपुर रोड, देहरादून से मुद्रित.